जैन-योग का एक महान् ग्रन्थ—

ज्ञानार्णव : एक विश्लेषण

☐ आचार्य डॉ. सी. एल. शास्त्री
एम. ए. 'त्रय', पी-एच. डी., काव्यतीर्थ, विद्यामहोदधि

ज्ञानार्णव दिगम्बर जैन संप्रदाय के सुप्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी तथा समादृत विद्वान् आचार्य शुभचन्द्र की कृति है। जैन योगवाङ्मय में यह अत्यधिक प्रतिष्ठापन्न है।

आचार्य शुभचन्द्र कब हुए, कहाँ दीक्षित हुए, जीवन किस क्षेत्र में कैसे व्यतीत हुआ इत्यादि ऐतिहासिक तथ्य कुछ भी प्राप्त नहीं हैं। आचार्य शुभचन्द्र ने अपनी इस महान् कृति में अपने सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। अपना नाम तक कहीं अंकित नहीं किया। भारतवर्ष के इस कोटि के अनेक तपस्वी विद्वानों, ऋषियों और ग्रन्थकारों के सम्बन्ध में हमें प्रायः ऐसा ही देखने को मिलता है। एक ओर जहाँ इससे उन तपःपूत महापुरुषों की निःस्पृहता तथा लोकैषणा-शून्यता का अत्यन्त उच्च रूप हमें देखने को मिलता है, वहाँ एक पक्ष हानि का भी है, जिसके कारण हम अपने प्राचीन साहित्य-सृष्टाओं की ऐतिहासिक शृंखला ठीक रूप में जोड़ नहीं पाते। आचार्य शुभचन्द्र की काल-गवेषणा में इसी प्रकार की स्थिति है। अनुमान, लोक-प्रचलित कथानक, जन-श्रुति आदि को लेकर ही कुछ परिकल्पना करनी पड़ती है। आचार्य शुभचन्द्र के पूर्ववर्ती काल के संबंध में उन्हीं के ग्रन्थ में संकेत प्राप्त होते हैं। उन्होंने मंगलाचरण में आचार्य समन्तभद्र, आचार्य देवनन्दी "पूज्यपाद", आचार्य जिनसेन तथा आचार्य अकलंक के प्रति निम्नांकित शब्दों में आदर दिखाया है, नमस्कार किया है—

"आचार्य समन्तभद्र आदि कवीश्वर रूपी सूर्यों की अमल, निर्दोष, उत्तम, उक्ति रूपी रश्मियाँ जहाँ संस्फुरित होती हैं, वहाँ ज्ञानलव-ज्ञान के अल्पतम अंश से उद्धत-गर्वित पुरुष जुगनुओं की तरह क्या हास्यास्पद नहीं होते ?

"जिनके वचन प्राणियों के शरीर, वाणी तथा मन में उत्पन्न होने वाले कलंक—दोष को अपाकृत करते हैं—मिटा देते हैं, ऐसे आचार्य देवनन्दी को मैं नमस्कार करता हूँ।

"त्रैविद्य न्याय, व्याकरण और सिद्धान्त के वेत्ताओं द्वारा जो वंदित है, जिसका आश्रय लेकर योगीजन आत्मा के निश्चय—आत्मा ही सत्य, शाश्वत एवं चिरन्तन है, एतत् रूप चिन्तन में स्खलित—विचलित नहीं होते, आचार्य जिनसेन की वह वाणी जयशील हो।

"जो अनेकान्त रूपी आकाश में चन्द्र-ज्योत्स्ना के समान देदीप्यमान है, ज्ञान-वैभव के स्वामी आचार्य अकलंक की पुनीत वाणी हमें पवित्र बनाए, हमारी रक्षा करे।[१]"

---

१. समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः॥

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका तात्पर्य यह हुआ कि आचार्य शुभचन्द्र से ये सब पूर्ववर्ती हैं। आचार्य जिनसेन अन्तिम हैं। यद्यपि श्लोक-क्रम में जिनसेन का उल्लेख आचार्य अकलंक से पहले किया गया है, पर उनका काल जिनसेन से पूर्ववर्ती है। आदिपुराण में जिनसेन ने स्वयं अकलंकदेव का स्मरण किया है। जिनसेन का समय ई० स० ८९८ से कुछ पूर्व सिद्ध होता है।

आचार्य जिनसेन ने महापुराण लिखना शुरू किया था, पर वे उसका पूर्वभाग—आदिपुराण ही लिख सके, वह भी थोड़ा सा बाकी रह गया, स्वर्गवासी हो गए। तब उनके प्रधान शिष्य आचार्य गुणभद्र ने आदिपुराण का अवशिष्ट अंश तथा महापुराण का उत्तरभाग उत्तरपुराण के नाम से लिखा। उत्तरपुराण ई० स० ८९८ में पूर्ण हुआ।

अनुमान किया जा सकता है कि उत्तरपुराण की संपूर्णता से कुछ ही वर्ष पूर्व आचार्य जिनसेन ने देह-त्याग किया हो। यों काल की पूर्व सीमा तो प्राप्त होती है, पर उत्तर सीमा प्राप्त नहीं होती। आचार्य शुभचन्द्र से उत्तरवर्ती कोई लेखक वैसा उल्लेख करता तो काल-निर्धारण में परिपुष्ट ऐतिहासिक आधार मिल पाता।

आचार्य शुभचन्द्र के जीवन-वृत्त को जानने के लिए केवल एक कथात्मक आधार हमें प्राप्त है। आचार्य विश्वभूषण द्वारा रचित भक्तामरचरित नामक एक संस्कृत ग्रन्थ उपलब्ध है। उसकी उत्थानिका में शुभचन्द्र और भर्तृहरि की कथा वर्णित है। वैसे भारतीय इतिहास में भर्तृहरि भी एक ऐसे पुरुष हैं, जिनका इतिवृत्त असंदिग्ध नहीं है। वाक्यपदीय के रचनाकार, शतकत्रय के लेखक और योगिवर्य भर्तृहरि क्या एक ही व्यक्ति थे या भिन्न ? ऐतिहासिक प्रमिति की भाषा में निश्चित शब्दावली में कुछ नहीं कहा जा सकता। उज्जयिनी-नरेश सम्राट विक्रमादित्य के ज्येष्ठ भ्राता के रूप में इनका उल्लेख आता है। धाराधीश महाराजा भोज के भी ये समसामयिक कहे जाते हैं। कुछ इन्हें भोज का भाई भी बतलाते हैं। कहाँ विक्रम संवत् के प्रतिष्ठापक विक्रमादित्य का समय, और कहाँ भोज का ? ११०० वर्षों का अन्तर ? शुभचन्द्र के साथ भी इसी तरह के अनेक वृत्त जुड़े हुए हैं। उन्हें मानतुंग, कालिदास, वररुचि और धनंजय, जिनका समय भिन्न-भिन्न है, का समसामयिक कहा जाता है। इतिहास की ये उलझी हुई गुत्थियां यथावत् रूप में कब सुलझ पाएंगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। भक्तामरचरित के अनुसार प्राचीन काल में मालव प्रदेश में सिंह नामक एक प्रतापी व धर्मनिष्ठ राजा था। उज्जयिनी राजधानी थी। वह अपनी संतति के तुल्य प्रजा का पालन करता था। राज्य में सब सुखी एवं आनन्दित थे। राजा को केवल एक बात का दुःख था, उसके कोई सन्तान नहीं थी। जब भी राजा अपनी व्यस्तता से कुछ मुक्त होता, विश्राम की मुद्रा में होता, झट उसे यह चिन्ता आ घेरती, मेरे पुत्र नहीं है। इस धन, राज्य, वैभव का क्या होगा ? मेरी वंश-

---

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम्।
कलंकमंगिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥
जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः।
योगिभिर्यत्समासाद्य स्खलितं नात्मनिश्चये ॥
श्रीमद्भट्टाकलंकस्य पातु पुण्या सरस्वती।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परम्परा कैसे चलेगी ? मंत्री ने जब राजा को यों उद्विग्न और खिन्न देखा तो राजा से पूछा। मंत्री के बहुत आग्रह पर राजा ने अपने मन की व्यथा उसे कह दी। मंत्री ने कहा—राजन् ! यह किसी के वश की बात नहीं है। यह तो दैवाधीन है, पर फिर भी पुण्य के प्रभाव से सांसारिक सुखों की प्राप्ति हो सकती है, इसलिए आप विशेष रूप से पुण्यार्जन कीजिए। मंत्री की बात राजा को बहुत पसन्द आई और वह पुण्य-कार्यों में विशेष रुचि लेने लगा, वैसा करने लगा।

एक दिन की घटना है। राजा अपनी रानी और मंत्री के साथ वन-विहार के लिए गया था। एक सरोवर था। उसके पास मुंज-सरकंडों का खेत था। राजा वहाँ घूम रहा था। अकस्मात् उसने देखा—मुंजों की ओट में एक नन्हा सा सुन्दर शिशु पड़ा हुआ है, अपना अंगूठा चूस रहा है। राजा के मन में वात्सल्य उमड़ पड़ा। तत्क्षण शिशु को उठाया और सरोवर की पालि पर बैठी रानी के पास आया। शिशु रानी की गोद में रख दिया। राजा ने रानी को शिशु के सम्बन्ध में सब बताया। मंत्री को भी सारी बात कही। मंत्री ने शिशु के चिह्न देखे और वह बोला—राजन् ! यह बालक सौभाग्यशाली भविष्य लिए हुए है। आप और महारानी इसे पुत्र के रूप में स्वीकार कर लीजिए। नगर में चलकर प्रसारित करवा दीजिए—महारानी का गर्भ किसी कारण-विशेष से गुप्त रखा गया था—अब राजकुमार का जन्म हुआ है। विशाल पुत्रोत्सव आयोजित कीजिए।

ऐसा ही किया गया। प्रजा में सर्वत्र आनन्द छा गया। शिशु मुंज के नीचे प्राप्त हुआ था, इसलिए राजा ने उसका नाम मुंज रखा। राजसी ठाठ-बाट से मुंज का लालन-पालन हुआ, विद्याध्ययन हुआ, कला-कौशल का शिक्षण दिया गया। युवा होने पर रत्नावती नामक राजकन्या से उसका विवाह कर दिया गया।

भाग्य का कैसा संयोग था, इधर महाराज सिंह की रानी गर्भवती हुई। पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम सिंहल "सिन्धुराज" रखा गया। राजा और रानी अत्यन्त प्रसन्न थे। राजकुमार सिंहल का सुन्दर रूप में लालन-पालन, शिक्षण आदि हुआ। युवा होने पर मृगावती नामक राजकन्या से उसका विवाह कर दिया गया। कुछ समय बाद मृगावती गर्भवती हुई। उसने पुत्र-युगल को जन्म दिया। बड़े का नाम शुभचन्द्र और छोटे का भर्तृहरि रखा गया। बड़ी अद्भुत स्थिति थी। इन दोनों ही बालकों को बचपन से तत्त्व-ज्ञान में बड़ी अभिरुचि थी। इसलिए इन्होंने उधर अच्छी योग्यता भी प्राप्त की।

एक दिन की घटना है, आकाश में बादल छाए थे। राजा सिंह अपने प्रासाद में बैठा था। थोड़ी देर में बादलों का रंग बदल गया और कुछ देर बाद सारे बादल लुप्त हो गये। सारा आकाश निर्मल दीखने लगा। अन्तरिक्ष के इस दृश्य का राजा के मन पर बहुत प्रभाव हुआ। राजा को इस साधारण से दृश्य ने अपने अन्तरतम में पैठ कर जीवन की गहराई में डुबकी लगाने को प्रेरित किया। राजा को सांसारिक भोग-सुख आकाश के बादलों के समान क्षण भर में नष्ट हो जाने वाले लगे। जीवन की क्षण-भंगुरता मानो राजा के आगे साक्षात् नाचने लगी। राजा ने मन ही मन सोचा—सांसारिक भोग खूब भोग लिए, क्या सारा जीवन यों ही बिताते चलना है ? अन्ततः उसके मन में विरक्ति हुई। उसने अपने पुत्र मुंज और सिंहल को

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारा राजकाज समझा दिया और संभला दिया। स्वयं श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। मुंज अपने भाई सिंहल के साथ आनन्दपूर्वक राज्य करने लगा।

एक दिन का प्रसंग है, मुंज, सिंहल और सिंहल के दोनों राजकुमार सामन्तों सहित वन-क्रीडा से नगर को लौट रहे थे। उन्होंने मार्ग में एक दर्पोद्धत तेली को खड़ा देखा। वह कन्धे पर कुदाल लिए हुए था। राजा मुंज को आश्चर्य हुआ। पूछा—तुम इस तरह क्यों खड़े हो ? तेली बोला—मैंने एक अद्भुत विद्या साधी है। उस विद्या के प्रभाव से मुझ में इतना बल है कि मुझे कोई पराजित नहीं कर सकता। तेली की बात राजा को बड़ी हास्यास्पद लगी। देखते ही देखते तेली ने एक लोहे का बड़ा दंडा जमीन में गाड़ दिया और वह बोला—महाराज ! आपके सामन्त और योद्धाओं में जिस किसी को अपनी शक्ति का गर्व हो, इसे उखाड़ दे। मुंज ने अपने सामन्तों की ओर दृष्टि डाली। एक एक कर सभी सामन्तों ने दंड को उखाड़ने का प्रयत्न किया, पर कोई सफल नहीं हो सका। यह देख सिंहल से रहा नहीं गया। वह स्वयं उठा और एक हाथ से झट से उस लौह-दंड को जमीन से उखाड़ डाला। उस दंड को उठाकर कहा—अब मैं इसे जमीन में गाड़ देता हूँ, कोई निकाले। यों कह कर एक हाथ से उस लौह-दंड को अविलम्ब जमीन में गहरा गाड़ दिया। जिसे अपने बल का अत्यधिक गर्व था, उस तेली ने दंड को उखाड़ने की बहुत चेष्टा की, पर उसे नहीं उखाड़ सका। दूसरे सामन्त भी उसे उखाड़ने में सफल नहीं हुए। दोनों सुकुमार राजकुमार शुभचन्द्र और भर्तृहरि अपने पितृव्य राजा मुंज के सम्मुख हाथ जोड़कर उपस्थित हुए और कहा—यदि आप आदेश करें तो इस लौहदंड को हम उखाड़ दें। राजा को, सामन्तों को बालकों की बात पर बड़ी हंसी आई। बालकों ने नहीं माना। अन्त में राजा ने आज्ञा दे दी। कुमारों ने अपनी चोटी के बालों का फन्दा बनाकर उसे लोहदंड में लगाया और एक ही झटके में दंड को उखाड़ फेंका। बालकों के पराक्रम की सर्वत्र प्रशंसा हुई। तेली अपना सा मुंह लेकर चलता बना।

राजा मुंज पहले तो प्रसन्न हुआ, फिर राज्य की तृष्णा ने उसके चिन्तन को एक विकृत मोड़ दिया। उसने सोचा, इन बालकों के बल का कोई पार नहीं है, कहीं मुझे राज्य-च्युत न कर दें। इन कांटों को अभी साफ कर देना चाहिए। राजा ने मंत्री के समक्ष अपने विचार रखे। यह सुन मंत्री स्तंभित हो गया। राजा को इस कुकृत्य से विरत करने की बहुत चेष्टा की पर राजा न माना। अन्त में मंत्री ने स्वीकार किया कि वह उनकी इच्छा के अनुसार व्यवस्था करवा देगा। मंत्री ने बालकों की हत्या करवाने हेतु अपने मन पर बहुत जोर डाला, पर मन वैसी निर्दयता के लिए तैयार नहीं हुआ। असत् ने सत् से हार मानी। मंत्री ने राजकुमारों को सारी बात कही, गुप्त रूप में उज्जयिनी छोड़कर भाग जाने की राय दी। दोनों राजकुमार अपने पिता सिंहल के समक्ष उपस्थित हुए और अपने कर्त्तव्य के संबंध में मार्ग-दर्शन चाहा। सिंहल बड़े भाई मुंज के इन अमानवीय और नृशंस विचारों से उत्तेजित हो उठा और पुत्रों से कहा—ऐसे दुर्जन का अन्त कर देना चाहिए। पर, दोनों राजकुमार तत्त्व-द्रष्टा थे। उन्होंने बहुत विनम्रता से कहा—इस छोटे से जीवन के लिए ऐसा कुकृत्य कैसे करें ? उनके पाप स्वयं उन्हें खा जाएंगे। यदि हमारे द्वारा उनका हनन होगा, तो इसका दोष आप पर आएगा। हम दोनों इस घटना से इतने अन्तःप्रेरित हुए हैं कि हमारा मन इस मायामय संसार में रहने का नहीं है, हम अपने को साधना में लगा देना चाहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिता ने बहुत रोका, समझाया। पर वे विनम्रतापूर्वक अपनी बात पर अड़े रहे। अन्त में पिता को स्वीकृति देनी पड़ी। पिता की आँखों से स्नेह के आँसू टपकते रहे और वे उनके देखते-देखते बीहड़ वन में खो गए।

दोनों राजकुमारों के जीवन ने दो मोड़ पकड़े। शुभचन्द्र ने एक दिगम्बर मुनि के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली तथा चारित्र-धर्म का पालन करते हुए घोर तप में अपने को लगा दिया। भर्तृहरि एक तांत्रिक तपस्वी के सान्निध्य में चले गए। उन्होंने कौल तंत्र की दीक्षा ले ली। जटा, भस्म, कमंडलु, चिमटा, कंदमूल से जीवन-यापन—यह सब उनके परिवेश और निर्वाह का रूप था। अपने इसी क्रम के बीच एक बार वन में घूमते हुए वे मार्ग भूल गए। चलते-चलते एक योगी के पास पहुँच गए, जिसके पांच ओर अग्नि जल रही थी, जो ध्यान में लीन था। भर्तृहरि उससे प्रभावित हुए और उसके शिष्य बन गए। वह योगी अनेक विद्याओं का वेत्ता था। भर्तृहरि बारह वर्ष उसके पास रहे तथा मंत्र, तंत्र, यंत्र आदि अनेक विद्याएं सीखीं। फिर उन्होंने गुरु से भ्रमण की आज्ञा चाही। गुरु प्रसन्न थे। उन्होंने उन्हें एक तूंबी दी, जो एक विशिष्ट रस से भरी थी। उस रस का यह प्रभाव था कि उसको छुआने मात्र से तांबा सोना हो जाता।

भर्तृहरि गुरु को प्रणाम कर चल पड़े और एक उपयुक्त स्थान पर आसन जमा लिया। स्वर्ण बनाने का चमत्कार उनके पास था। उनके सैकड़ों शिष्य हो गए। अनेक सेवक हो गए। सेवा-परिचर्या करने लगे। उनका प्रभाव और ख्याति फैलने लगी।

एक दिन बैठे-बैठे योगी भर्तृहरि के मन में अपने भाई शुभचन्द्र की याद आई—वे कहाँ हैं, कैसे हैं, क्या करते हैं, कुछ भी ज्ञात नहीं। अपने एक शिष्य को शुभचन्द्र की खोज करने भेजा। शिष्य को श्रम तो बहुत हुआ, पर अन्ततः उसने शुभचन्द्र का पता लगा लिया। उसने देखा—वे नग्न हैं। अंगुलमात्र भी वस्त्र उनके पास नहीं हैं, और भी कुछ नहीं है। केवल एक कमंडलु है। शिष्य दो दिन वहाँ रहा। भूखा ही रहा। भोजन की कौन पूछता? तीसरे दिन मुनि को प्रणाम कर रवाना हो गया, अपने गुरु के पास आया। मुनि शुभचन्द्र की स्थिति, वातावरण आदि का शिष्य के मन पर जो प्रभाव पड़ा था, उसके अनुसार उसने अपने गुरु से निवेदन किया—आपके भाई बड़ी दुरवस्था और संकट में हैं। वस्त्र के नाम पर तो उनके पास लंगोटी तक नहीं है, न खाने-पीने की व्यवस्था है और न कोई और सुविधा है। असुविधा और कष्ट ही कष्ट है। वे बड़ी दरिद्रावस्था में हैं। आप कुछ सहायता कीजिए। भाई की दुर्दशा सुन भर्तृहरि बड़े खिन्न हुए। उन्होंने अपनी तूंबी का आधा रस एक दूसरी तूंबी में उंडेला। शिष्य को वह तूंबी दी और कहा—जाओ, मेरे भाई को यह दे आओ। उन्हें बतला देना—इससे जितना जैसा जब चाहो, स्वर्ण बनाते रहना। शिष्य प्रसन्नता से चलता-चलता मुनि शुभचन्द्र के पास पहुँचा। उन्हें वह तूंबी दी, उसका प्रभाव बतलाया और भाई भर्तृहरि के समाचार कहे। मुनि शुभचन्द्र बोले—बहुत अच्छा! यह रस पत्थर पर डाल दो। शिष्य आश्चर्यचकित हो गया। कहने लगा—ऐसी अद्भुत और चमत्कारी वस्तु को आप यों नष्ट करना चाहते हैं? शुभचन्द्र ने कहा—तुम्हें इसकी चिन्ता क्यों है? जो वस्तु मुझे दी जा चुकी है, उसका मैं चाहे जैसे उपयोग करूँ। यदि ऐसा नहीं कर सको तो इसे वापस ले जाओ। शिष्य बड़े धर्म-संकट में पड़ गया। वापस ले जाने पर गुरु रुष्ट होंगे, पत्थर पर डाल देने से अमूल्य रस वृथा

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नष्ट होगा। क्या किया जाए? अन्त में उसने यही उचित समझा, मुनि की आज्ञा उसे माननी चाहिए। रस को पत्थर पर डाल दिया। वह वापस गुरु के पास लौट आया।

गुरु को सारा वृत्तान्त बताया। भर्तृहरि बहुत दुःखी हुए। उन्हें मन ही मन यह सन्देह रहा, कहीं भाई को रस का गुण यथार्थ रूप में न बताया जा सका हो, अन्यथा ऐसी मूर्खता वे कैसे करते?

भर्तृहरि अपने शिष्यों के साथ स्वयं शुभचन्द्र से मिलने को उद्यत हुए। साथ में उन्होंने अपनी रस की तूंबी ले ली। आधा रस उसमें था ही। मुनि शुभचन्द्र के पास पहुँचे। विनयपूर्वक वन्दन, नमस्कार किया, कुशल-क्षेम पूछा। तदनन्तर वह रस की तूंबी उन्हें भेंट की। शुभचन्द्र ने पूछा—इसमें क्या है? भर्तृहरि ने कहा—इसमें एक ऐसा प्रभावकारी विचित्र रस है, जिसके छूने मात्र से ताम्र सुवर्ण हो जाता है। दीर्घकाल के घोर परिश्रम से मैंने इसे प्राप्त किया है। शुभचन्द्र ने तूंबी को उठाया और पत्थर की शिला पर दे मारा और उन्होंने कहा—यह पत्थर तो स्वर्ण का नहीं बना? पत्थर पर इसका प्रभाव नहीं चला?

भाई का यह उपक्रम देख भर्तृहरि मन ही मन बड़े व्यथित हुए, कहने लगे—बारह बरस की लम्बी साधना के परिणामस्वरूप मैंने इसे पाया। मुझे नहीं मालूम था, आप इस बहुमूल्य रस को यों नष्ट कर डालेंगे। आपने यह अच्छा नहीं किया। अच्छा हो, आप भी कुछ चमत्कार दिखलाइए! इतने दिन आपने साधना की है।

शुभचन्द्र बोले—भाई! प्रतीत होता है, तुमको अपने रस के नष्ट हो जाने से बड़ा दुःख हुआ। क्यों नहीं सोचते, यदि स्वर्ण की ही लिप्सा थी तो अपना राज्य ही क्यों छोड़ा? स्वर्ण, रत्न, धन, धान्य किसी की भी वहाँ कमी थी? अच्छा होता, वहीं रहते। जिस सांसारिक दुःख या आवागमन का तुम अन्त करना चाहते हो, इन मंत्र-तंत्रों से क्या वह सधेगा? तुम अपना लक्ष्य भूल गए! ज्ञान भूल गए! फिर मुझे चुनौती दे रहे हो, कुछ चमत्कार दिखाने की। मुझे न चमत्कार में कोई विश्वास है, न मुझ में कोई चमत्कार या जादू है। फिर भी तपश्चरण में बहुत बड़ी शक्ति होती है। इतना कहकर शुभचन्द्र ने अपने पैर के नीचे की थोड़ी सी मिट्टी उठाई और पास में पड़ी हुई शिला पर डाल दी। शिला सोने की हो गई। यह देख भर्तृहरि स्तंभित रह गए। भाई के चरणों में गिर पड़े और अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे—जीवन का कितना बहुमूल्य समय मैंने लौकिक चमत्कारों को साधने में लगा दिया। उन्होंने मुनि शुभचन्द्र से श्रमणदीक्षा की प्रार्थना की।

भर्तृहरि का चित्त उपशान्त था। उनमें तीव्र जिज्ञासा थी। मुनिशुभचन्द्र ने उन्हें धर्म का उपदेश दिया। सप्त तत्त्व, नव पदार्थ का ज्ञान कराया। भर्तृहरि के मन का अज्ञानान्धकार दूर हुआ, उनकी दृष्टि सम्यक् हुई। उन्हें यथार्थ दर्शन मिला। उन्होंने मुनि शुभचन्द्र के पास दिगम्बर श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। मुनि शुभचन्द्र ने भर्तृहरि को श्रमण-मार्ग में दृढतापूर्वक गतिमान रहने, साधना में उत्तरोत्तर आगे बढ़ाने तथा योग का अध्ययन कराने के निमित्त ज्ञानार्णव नामक ग्रन्थ की रचना की। भर्तृहरि ने उनके चरणों में बैठ इसका सांगोपांग अध्ययन किया और वे अध्यात्म-योग की साधना में अविच्छिन्न रूप में लगे रहे। दोनों भाइयों ने अपने जीवन का सही लक्ष्य साधा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य शुभचन्द्र के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में उपर्युक्त कथा के अतिरिक्त और कोई विशेष ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती। जैसा पहले उल्लेख किया गया है, भर्तृहरि के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में भी कोई प्रमाणभूत आधार नहीं है।

भर्तृहरि के वैराग्यशतक का गहराई से अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उनका झुकाव तितिक्षा-प्रधान जैनधर्म की ओर विशेष था। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—

"प्रभो ! मेरे जीवन में ऐसा समय कब आएगा, जब मैं एकाकी, स्पृहाशून्य, शान्त, हाथ को ही पात्र के रूप में प्रयुक्त करने वाला, दिशाओं को ही अपना वस्त्र समझने वाला होकर कर्मों के विनाश में समर्थ बनूंगा।"[1]

इस प्रकार के तितिक्षु जीवन की प्रशंसा करते हुए उन्होंने एक स्थान पर और लिखा है—

"वे पुरुष धन्य हैं, जिनके हाथ ही पवित्र पात्र हैं, जो सदा भ्रमण करते रहते हैं, भिक्षा ही जिनका अविनश्वर भोजन है, दशों दिशाएँ ही जिनका विस्तृत तथा स्थिर वस्त्र है, विशाल पृथ्वी ही जिनका बिछौना है, जिनकी मानसिक परिणति अनासक्ति-युक्त है, जिन्हें परिग्रह, सांसारिक धन, वैभव आदि में जरा भी आसक्ति नहीं है, जिन्हें आत्म-रमण में ही परितोष है, दीनता—किसी के आगे हाथ फैलाना जैसे दुःखों से जो सर्वथा उन्मुक्त हैं, ऐसे ही सत्पुरुष अपने कर्मों का उन्मूलन करते हैं।"[2]

इन प्रसंगों से निर्विवाद रूप से यह प्रकट होता है कि भर्तृहरि वैसे उच्च त्यागमय जीवन की ओर बहुत ही आकृष्ट थे, जो एक दिगम्बर जैन श्रमण का होता है। भर्तृहरि का वैराग्यशतक एक ऐसी वैराग्य और त्याग प्रधान रचना है, वैचारिक दृष्टि से जिसका जैन सिद्धान्तों से काफी नैकट्य है। वैराग्यशतक और ज्ञानार्णव के तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि दोनों के अनेक श्लोक भाव की दृष्टि से बहुत नजदीक हैं।

वैराग्यशतक में एक स्थान पर लिखा है—

"पर्वत की शिला जिनकी शय्या है, गुफा जिनका घर है, वृक्षों की छाल जिनका वस्त्र है, पक्षी जिनके मित्र हैं, वृक्षों के कोमल फलों से जिनका जीवन चलता है, झरनों का जल ही जिनका समुचित पेय है, विद्यारूपी अंगना में जिनको अनुराग है, जिन्होंने सेवक के रूप में किसी के सामने सिर पर अंजलि नहीं बांधी—सिर झुकाकर हाथ नहीं जोड़े। मैं मानता हूँ, वे ही वास्तव में परम ऐश्वर्यशाली हैं।"[3]

---

१. एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो ! संभविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षयः॥ —वैराग्यशतक ८९

२. पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं,
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमचपलं तल्पमस्वल्पमुर्वी।
येषां, निःसंगतांगीकरणपरिणतस्वान्तसन्तोषिणस्ते,
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति॥ —वैराग्यशतक ९९

३. शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः,
सारंगाः सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्तिः फलैः कोमलैः।
येषां निर्झरमम्बुपानमुचितं रत्यैं तु विद्यांगना,
मन्ये ते परमेश्वराः शिरसि यैर्बद्धो न सेवांजलिः॥ वैराग्यशतक १०

आसमस्थ तम
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानार्णव का निम्नांकित श्लोक दृष्टव्य है, जो लगभग इसीके समकक्ष है—

"विन्ध्यपर्वत जिनका नगर है, गुफाएँ जिनकी वसति है, पर्वत की शिला जिनकी शय्या है, चन्द्रमा की किरणें जिनके दीपक हैं, मृग-पशु जिनके सहचर हैं, प्राणीमात्र के साथ मित्रता जिनकी उत्तम अंगना है, विज्ञान-विशिष्ट ज्ञान जिनके लिए जल है, तप जिनका सात्त्विक भोजन है, ऐसे प्रशान्तात्मा पुरुष धन्य हैं। वे हमें संसार के कीचड़ से निकलने का पथ उपदिष्ट करें।"[1]

ज्ञानार्णव की भाषा, शैली, शब्द-संरचना आदि देखने से प्रतीत होता है कि आचार्य शुभचन्द्र की प्रतिभा बहुत उर्वर एवं उत्कृष्ट थी। उन्होंने अध्यात्म तथा योग जैसे विषय को अत्यन्त सुन्दर, सरस एवं प्रसादपूर्ण भाषा में सफलतापूर्वक उपस्थित करने का प्रयास किया है। उन्होंने अपना ग्रन्थ सर्गात्मक शैली में लिखा है, जिसका प्रयोग कवि महाकाव्यों में करते रहे हैं। ज्ञानार्णव एक विस्तृत ग्रन्थ है। इसमें ४२ सर्ग हैं। आचार्य शुभचन्द्र ने अपने इस ग्रन्थ में पद्यात्मक शैली के साथ-साथ गद्यात्मक शैली का भी प्रयोग किया है। उनके पद्यों में सरसता है, प्रवाह है। भाषा विषय को सहज रूप में अपने से समेटे हुए सरिता की थिरकती हुई लहर की तरह गतिशील है। अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, मालिनी, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता, आर्या, वंशस्थ, पृथ्वी, वसन्ततिलका, इन्द्रवंशा आदि छन्दों का इसमें बड़ी सुन्दरता व सफलतापूर्वक प्रयोग हुआ है। गद्य में प्रौढता, शब्द-सौष्ठव और भाव-गांभीर्य है।

आचार्य ने पहले सर्ग में मंगलाचरण के पश्चात् सत्श्रुत-सद्ज्ञान तथा सत्पुरुषों की गरिमा और प्रशस्ति का वर्णन किया है, साथ ही साथ संसार के मायाजाल से विमुक्त होने की प्रेरणा दी है। सर्ग के अन्त में उन्होंने संसार की दुःख-दारुणता तथा विनश्वरता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"यह जगत् भयावह वन है। दुःख रूपी अग्नि की ज्वाला से यह परिव्याप्त है। इन्द्रिय-सुख परिणामविरस है, अर्थात् उसका परिणाम दुःखात्मक होता है। काम—सांसारिक भोग, अर्थ-धन, वैभव अनित्य हैं, जीवन बिजली के समान चंचल-अस्थिर है। इस सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन कर जो अपने स्वार्थ-आत्मा के लक्ष्य को साधने में सुकृती-सत्प्रयत्नशील है, वह क्यों इसमें विमूढ़ बनेगा।"

दूसरे सर्ग में आचार्य ने अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, लोक, बोधदुर्लभ, इन बारह भावना का विवेचन किया है। इस विवेचन के अन्तर्गत उन्होंने ऐसी प्राणवत्ता भर दी है कि पाठक या श्रोता पढ़कर या सुनकर अन्तःस्फुरणा का अनुभव किये बिना नहीं रहता। अशरण भावना के विवेचन के अन्तर्गत

---

१. विन्ध्याद्रिनगरं गुहा वसतिकाः शय्या शिला पार्वती,
दीपाश्चन्द्रकरा मृगाः सहचरा मैत्री कुलीनांगना।
विज्ञानं सलिलं तपः सदशनं येषां प्रशान्तात्मनां,
धन्यास्ते भवपंकनिर्गमपथप्रोद्देशकाः सन्तु नः॥ —ज्ञानार्णव ५-२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्होंने दुर्निवार काल का वर्णन करते हुए लिखा है—

"यह काल जिस प्रकार बालक को लील जाता है, उसी प्रकार वृद्ध को भी अपना ग्रास बना लेता है, वह धनी एवं गरीब में कोई भेद नहीं करता। वह शूरवीर को भी, कायर को भी समान रूप से खा जाता है।

जब यह काल विपक्षी के रूप में प्राणियों के समक्ष खड़ा होता है तो न गजवाहिनी, न अश्ववाहिनी तथा न रथवाहिनी सेनाएँ, न मन्त्र, न औषधियाँ, न पराक्रम ही कुछ काम आता है। ये सब व्यर्थ हो जाते हैं।"[1]

तीसरे सर्ग में ध्यान का संकेत रूप में वर्णन है। चौथे एवं पांचवें सर्ग में ध्यान तथा ध्याता का स्वरूप, योग्यता, आदि पर प्रकाश डाला गया है। छठे एवं सातवें सर्ग में सम्यक्-दर्शन, सम्यक्ज्ञान के वर्णन के साथ-साथ जीव तत्त्व, अजीव तत्त्व आदि पर प्रकाश डाला है। आठवें से सत्रहवें सर्ग तक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का विवेचन है। अठारहवें सर्ग में पांच समितियों तथा तीन गुप्तियों की व्याख्या है। उन्नीसवें सर्ग में क्रोध, मान, माया तथा लोभ—इन कषायों का वर्णन करते हुए, इनकी परिहेयता बतलाते हुए क्षमा, प्रशम तथा उपशम-भाव की प्रशंसा की गई है। बीसवें सर्ग में इन्द्रियजय, मनोजय का उपदेश है।

इक्कीसवें सर्ग में शिवतत्त्व, गरुड़तत्त्व तथा कामतत्त्व का सूक्ष्म विवेचन है। इस सन्दर्भ में आत्मा सर्वशक्तिमान है, इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है—

"यह आत्मा साक्षात् गुणरूपी रत्नों का महासागर है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, सर्वकल्याणकर है, परम ईश्वर है, निरंजन—किसी भी प्रकार के अंजन या कालिमा से रहित है, शुद्ध नय की दृष्टि से यह आत्मा का स्वरूप है।"[2]

वे आगे लिखते हैं—

"ध्यान से आत्मा के समग्र गुण प्रस्फुटित होते हैं तथा ध्यान से ही अनादि काल से संचित कर्मसमुदाय क्षीण होता है।"[3]

इसके पश्चात् आचार्य ने शिवतत्त्व, गरुड़तत्त्व तथा कामतत्त्व का मार्मिक विश्लेषण किया है। उन्होंने कहा कि अन्य मतावलम्बी ध्यान के लिए एतद्रूप त्रितत्त्व की स्थापना करते हैं। वास्तव में तो जो भी कल्पना की जाय, वह सब आत्मा पर ही आधृत है।[4]

---

१. यथा बालं तथा वृद्धं यथाढ्यं दुर्विधं तथा।
यथा शूरं तथा भीरुं साम्येन ग्रस्तेऽन्तकः॥
गजाश्वरथसैन्यानि मन्त्रौषधबलानि च।
व्यर्थीभवन्ति सर्वाणि विपक्षे देहिनां यमे॥ —ज्ञानार्णव २.११,१२ "अशरण-भावना"

२. अयमात्मा स्वयं साक्षाद् गुणरत्नमहार्णवः।
सर्वज्ञः सर्वदृक् सार्वः परमेष्ठी निरंजनः॥ —ज्ञानार्णव २१. १

३. ध्यानादेव गुणग्राममस्याशेषं स्फुटीभवेत्।
क्षीयते च तथानादिसंभवा कर्मसन्ततिः॥ —ज्ञानार्णव २१. ८

४. शिवोऽयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मेव कीर्त्तितः।
अणिमादिगुणानर्घ्यरत्नवार्धिबुधैर्मतः॥ —ज्ञानार्णव २१. ९

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

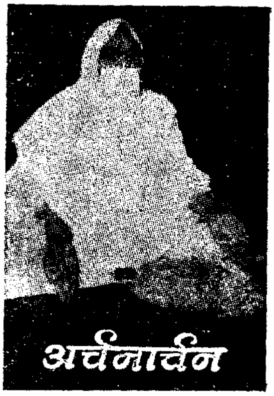

शिवतत्त्व

शिवतत्त्व के परिपार्श्व में साधक का चिन्तन-स्रोत आत्मा की शिवमयता एवं शिवंकरता को उद्दिष्टकर गतिमान् होता है। आत्मा जो संसारावस्था में जीवात्मा कही जाती है, वही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप सामग्री आन्तरिक बाह्यस्वरूप आदि अधिगत करती है। सुसंस्कार एवं सत्प्रयत्न के बल से उसे सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्राप्त होता है, वह अतिशय वैशिष्ट्य प्राप्त करती है। फलतः क्रमशः मोह का अपगम होता है, शुक्लध्यान का उद्गम होता है, आत्मा के मूल गुणों का हनन करने वाले कर्म नष्ट होते हैं, अनन्तदर्शन अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य—आत्मा के ये चार गुण प्रकट होते हैं। इन गुणों का प्राकट्य आत्मा की वह दशा है, जो परमात्मा शब्द से पहचानी जाती है। यह आत्मा का शिवमय स्वरूप है। सर्वथा सत्य, सर्वथा श्रेयोमय तथा श्रेयस्कर शिव-आप्यायित एतन्मूलक स्वरूप का अनुचिन्तन, अनुशीलन, अनुस्मरण शिवतत्त्व की आराधना है।[1]

गरुड़तत्त्व

भारतीय देववाद में गरुड़ का बड़ा महत्त्व है। वैसे गरुड़ एक पक्षी होता है, बहुत तीव्रगामी होता है। उसे पुराण-साहित्य में पक्षिराज कहा गया है तथा भगवान् विष्णु का वह वाहन माना गया है। वहाँ उसमें देवत्व की परिकल्पना की गई है। उसका स्वरूप मानव और पक्षी का मिला-जुला आकार लिए भारतीय चित्रकला में बहुत स्थानों पर अंकित हुआ है। भगवान् विष्णु के मन्दिरों में विष्णु की मूर्ति के ठीक सामने सभा-मण्डल से बाहर एक चत्वर पर प्रणाम की मुद्रा में गरुड़ संस्थापित होता है। देव के रूप में प्रतिष्ठित गरुड़ का सारा शरीर मनुष्य के आकार का होता है, केवल मुख की आकृति गरुड़ की-सी होती है। मुख पर चोंच होती है। दो पंख दोनों बाहुमूलों से निकलते हुए घुटनों तक लटकते हैं। कहीं-कहीं गरुड़ के मुंह में पकड़े हुए सर्प भी दिखाये जाते हैं। ध्यान के सन्दर्भ में गरुड़तत्त्व की जो परिकल्पना की गई है, वहाँ गरुड़ की चोंच में दो सर्प लटकते हुए माने गये हैं। चोंच में पकड़ा हुआ एक सर्प मस्तक पर होते हुए पीठ की ओर लटकता है, दूसरा उदर की ओर लटकता है। गरुड़ की देह में पांचों तत्त्वों की कल्पना की गई है। उसके घुटनों से नीचे पृथ्वी-तत्त्व, घुटनों से ऊपर नाभि तक जल-तत्त्व, नाभि से हृदय तक अग्नि-तत्त्व, हृदय से मुख तक वायु-तत्त्व का अस्तित्व माना गया है। आकाश-तत्त्व में एतत्स्वरूपात्मक गरुड़ की परिस्थापना मानकर ध्यान करने का विधान किया गया है। कहा गया है, इससे सारे उपद्रव और विघ्न मिट जाते हैं।

---

१. यथान्तर्बहिर्भूतनिजनिजानन्दसन्दोहसंपाद्यमानद्रव्यादि चतुष्कसकलसामग्रीस्वभावप्रभावात्परिस्फुरितरत्नत्रयातिशयसमुल्लसितस्वशक्तिनिराकृतसकलतदावरणप्रादुर्भूतशुक्लध्यानानलबहुलज्वालाकलापकवलितगहनान्तरालादिसकलजीवप्रदेशघनघटितसंसारकारणज्ञानावरणादिद्रव्यभावबन्धनविश्लेषस्ततो युगपत्प्रादुर्भूतानन्तचतुष्टयो घनपटविगमे सवितुः प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवत् स खल्वयमात्मैव परमात्मव्यपदेशभाग्भवती निशिवतत्त्वम्।

—ज्ञानार्णव २१. १० "गद्यभाग"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावना में प्राबल्य, चिन्तन में शक्तिमत्ता, गति में अत्यधिक तीव्रता, स्थिति में धीरता और दृढ़ता का समावेश करने का अभिप्रेत लिए संभवतः योगियों ने गरुड़तत्त्व परिकल्पित किया हो। पौराणिक विवेचन के अनुसार जैसा ऊपर संकेत किया गया है, गरुड़ की ये विशेषताएँ हैं ही। तीनों लोकों के पालक भगवान् विष्णु को अपनी पीठ पर बिठाकर विद्युत् वेग से उड़ने वाले गरुड़ की अत्यधिक शीघ्रगामिता, स्फूर्तिमयता एवं बलशालिता सहज ही अनुमेय है। सर्प जैसे विषाक्त जन्तु को वह एक साधारण कीड़े की तरह नष्ट कर डालता है। यह उसकी असाधारण विशेषता है। इतना ही नहीं, वह जहरीले सांपों को निगल जाता है, उन्हें हजम कर लेता है। गरुड़ को बाह्य प्रतीक मानकर आन्तरिक अभ्युत्थान, ऊर्ध्वीकरण और उन्नयन के लिए विधि-विशेष के साथ ध्यान में उद्यम-रत होना एक रहस्यमयी साधना से जुड़ा है। आत्म-शक्ति के स्फोट के लिए जो विशेष तीव्र उत्कण्ठा, चेष्टा, क्रिया और गति चाहिए, उसमें इसकी प्रेरकता है। योगनिरत साधक निरन्तर इस अनुचिन्तन और ध्यान में रहता है कि वह साधना में गरुड़ की-सी गतिशीलता एवं ऊर्ध्वगामिता आत्मसात् करें। गरुड़ की चोंच द्वारा पकड़े हुए, पेट की ओर लटकते हुए एवं मुख के ऊपर से मेरुदंड की ओर लटकते हुए सर्पों के प्रतीक से वह यह प्रेरणा ले—उसे अपनी कुंडलिनीशक्ति जागरित कर ऊर्ध्वमुखी बनानी है, जिससे सहस्रारदल कमल में उसका मुंह खुल जाय। हठयोग के अनुसार उससे अमृत टपकता है।

यहाँ परिकल्पित गरुड़ के स्वरूप में दोनों ओर भीषण नागों का लटकना यह भी संकेत करता है कि काम-भोगात्मक विषाक्तता से घिरा रहता हुआ भी योगी उससे सर्वथा अप्रभावित रह उन्हें आत्मबल-प्रसूत उज्ज्वल परिणामों द्वारा भीतर ही भीतर जीर्ण कर डाले।[1]

आचार्य ने गरुड़ के स्वरूप में सन्निविष्ट पृथ्वी आदि तत्त्वों की विस्तार से चर्चा की है। पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि के पौराणिक स्वरूप का वर्णन करते हुए उन्हें गरुड़गत ध्येय आलम्बनों के रूप में व्याख्यात किया है।

कामतत्त्व

पुरुषार्थ-चतुष्ट में काम का अपना विशेष महत्त्व है। सारे सांसारिक व्यवहार के मूल में काम की प्रेरणा है। काम रूप साध्य को प्राप्त करने के लिए ही व्यक्ति धनार्जन करना चाहता है। धनार्जन के लिए श्रम, क्लेश, अपमान, तिरस्कार सब कुछ सहता है। जगत् में मानव की जो अविश्रान्त दौड़ दिखाई देती है, उसके पीछे काम-काम्य भोग एवं सुख की लिप्सा ही है। भावना की तीव्रता अध्यवसाय की गति में निश्चय ही वेग लाती है। कामोन्मुख वेग को उधर से निकालकर योग में संभृत कर देने के अभिप्राय से ध्यान के हेतु काम-तत्त्व की परिकल्पना वास्तव में विचित्र है। विवेचन के अन्तर्गत बाह्यरूप में वे सभी उपकरण रूपक-शैली में वर्णित किये गए हैं, जो कात्म-व्यापार में दृश्यमान होते हैं। पर उनका आन्तरिक मोड़

१. गगनगोचरामूर्त्तजयविजयभुजंगभूषणोऽनन्ताकृतिपरमविभुर्नभस्तलनिलीनसमस्ततत्त्वात्मकः समस्तज्वररोगविषधरोड्डामरडाकिनीग्रहयक्षकिनीग्रहयक्षकिन्नरनरेन्द्रारिमारिपरयन्त्रतन्त्रमुद्रामण्डलज्वलनहरिशरभशार्दूलद्विपदैत्यदुष्टप्रभृतिसमस्तोपसर्ग-निर्मूलनकारिसामर्थ्यः परिकलितसमस्तगारुडमुद्रामण्डलाडम्बरसमस्ततत्त्वात्मकः सन्नात्मैव गरुडगीर्गोचिरत्वमवगाहते।
—ज्ञानार्णव २१. ९५ "गद्यभाग"

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशुद्ध निर्लेप ब्रह्म-तत्त्व या आत्म-तत्त्व की ओर है। काम को धनुषधारी माना गया है। वह धनुष पर बाण चढ़ाकर सम्मुखीन जनों को विमोहित करता है। काम-तत्त्व में स्वसंवेदन-गोचर समस्त जगत् धनुष स्थानीय है। उन्मादन, मोहन, संतापन, शोषण एवं मारण—ये काम के पांच बाण माने गए हैं। इन द्वारा काम पुरुष को काम्य में—प्रेयसी में तन्मय बना देता है, जिसे प्राप्त करने के लिए वह कामाहत पुरुष अत्यन्त आकुल हो उठता है। अध्यात्म-योगी स्वसंवेदनरूप धनुष पर निवेशित और क्षिप्त अति उज्ज्वल आत्म-परिणाम रूप बाणों के आघात या संस्पर्श से मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए उन्मत्त, मोहित, संतप्त, पीड़ित और मृत जैसा हो जाता है। जो भावों की तीव्रता कामानुप्रेरित पुरुष के मन में कामिनी को स्वायत्त करने की होती है, वैसी ही तीव्रता अध्यात्मयोगी के मन में आत्मलक्ष्मी को वशंगत करने की होती है। रति, सूत्रधार, वसन्त, सहकार, लता, भ्रमरी-निनाद, कोकिल-केका, मलयानिल, विरह, विप्रलब्धा, पाटल-पादपों का सौरभ-पराग, मालती-सुरभि इत्यादि समग्र कामोपकरणों का आध्यात्मिक प्रतीकों के रूप में सूक्ष्म विश्लेषण आचार्य ने प्रस्तुत प्रसंग में किया है। साहित्यशास्त्र में इन्हें काम की सेना में परिगणित किया गया है। ये वे साधन हैं जो काम के उद्भव में उत्प्रेरक होते हैं।

कामतत्त्व की परिकल्पना में एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथ्य का अनुप्राणन है। मनोविज्ञान मानता है कि काम-वासना नैसर्गिक है। उसमें सौन्दर्यानुप्राणित सुख की अनुभूति है। सौन्दर्य के प्रति इसीलिए सबसे सहज आकर्षण है, उससे परितोष मिलता है। साथ ही साथ मनोविज्ञान ऐसा भी स्वीकार करता है कि परितोष सुख या तुष्टि लेने की वृत्ति को मोड़ देकर सौन्दर्य से प्राप्त होने वाले सुख की अनुभूति यदि कोई दर्शन, साधना, सेवा या कला में करने लगे तो जीवन की एक स्वाभाविक क्षुधा उधर परितोष पाने लगेगी और वह व्यक्ति कामात्मक सौन्दर्य को न छूता हुआ भी जीवन में परितुष्ट रह सकेगा, उसे कोई अभाव नहीं खलेगा। जो महान् त्यागी, संन्यासी, तपस्वी, भक्त, लोकसेवी या समर्पित कलाकार आदि हुए हैं, जिन्होंने सब कुछ भुलाकर अपने को कार्यों में उन्मत्त की तरह जोड़े रखा, वे इसी कोटि के पुरुष थे, जिनकी कामात्मक वृत्ति की परितोषकता उन उन कार्यों में पूर्ति पाने लगी थी। मनोविज्ञान में इस वृत्ति को Sublimation कहा है। क्योंकि किसी भी वृत्ति को मिटाया नहीं जा सकता, उसकी दिशा को नया मोड़ दिया जा सकता है, उसका परिष्कार किया जा सकता है। वैसा किये बिना यदि वृत्ति के उच्छेद का प्रयास किया जाता है तो व्यक्ति गिर जाता है, असफल हो जाता है।

काम-तत्त्व की परिकल्पना में समग्र कामात्मक उपकरणों को प्रतीक के रूप में सम्मुख रखकर तद्गत ऐहिक सुख को विवेक तथा अन्तर-अनुभूति पूर्वक आत्मरमण के सुख से जोड़ कर भोग की वृत्ति को परिष्कृत करने का या काम-प्रवाह से आत्म-प्रवाह में लाने का एक उपक्रम है।

विवेचन और विश्लेषण की दृष्टि से यह सुन्दर और आकर्षक अवश्य है, पर कुछ जटिल तथा दुरूह जैसा है, इसलिए आचार्य शुभचन्द्र ने किन्हीं की मान्यता के रूप में इसे उपस्थित तो किया है, पर वे नहीं मानते कि इससे कोई बहुत बड़ी बात बन जाय। यही बात पिछले दो तत्त्वों के साथ है। शिव-तत्त्व के सम्बन्ध में जो कहा गया है, वह तो वस्तुतः आत्मतत्त्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को अधिगत करने के परम्पराप्राप्त साधनाक्रम में है ही, मात्र भिन्न नाम से उसे अभिहित किया जा सकता है, पर वैसी कोई पृथक् साधना की स्थिति वहाँ नहीं बनती।

तत्त्वत्रय के विश्लेषण के पश्चात् आचार्य शुभचन्द्र ने उससंहारात्मक रूप में कहा है—

इस संसार में शरीर-विशेष से समवेत जो भी कुछ सामर्थ्य हम प्राप्त करते हैं, वह निश्चित रूप से आत्मा का ही है। आत्मा की प्रवृत्ति-परम्परा से—अशुद्ध परिणामों से शरीर उत्पन्न हुआ है, आत्मा की संसारावस्था में वह सहचरित है, इसलिए सामर्थ्य-विशेष के साथ शरीर को भी जोड़ा जाता है, पर वास्तव में मूलतः वह सामर्थ्य शरीर का नहीं। अतः तत्त्व की परिकल्पना का भी सामर्थ्यात्मक दृष्टि से आत्मा में ही समावेश हो जाता है। चित्र-विचित्र चेष्टाएँ और उपक्रम आत्मा की अशुद्धावस्था की परिणतियां हैं।[1]

बाईसवें सर्ग में मनोव्यापार के अवरोध, मन के वशीकरण या मनोजय के सम्बन्ध में आचार्य ने प्रकाश डाला है।

साधक के लिए मन के अवरोध को उन्होंने बहुत आवश्यक बतलाया है, कहा है—

"जिन्होंने मन को रोक लिया, उन्होंने सबको रोक लिया अर्थात् मन को वश में करने का अभिप्राय है, सबको वश में करना। जिनका चित्त असंवृत-अनिरुद्ध या अवशीभूत है, उनका अन्य इन्द्रियों को रोकना निरर्थक है।

मन की शुद्धि से कलंक-दोष या विकार विलीन-विनष्ट हो जाता है, मन के समीभूत—आत्म-स्वभाव में समन्वित होने पर स्वार्थ-जीवन के सही लक्ष्य की सिद्धि या प्राप्ति हो जाती है।"[2]

"एक मात्र मन का निरोध ही सब अभ्युदयों को सिद्ध करने वाला है। उसी का आलम्बन लेकर योगी तत्त्व-विनिश्चय को प्राप्त हुए।"[3]

मन के निरोध का मार्ग बताते हुए आचार्य ने लिखा है—

"एक मेक बने स्व और पर को—आत्मा तथा देह आदि पर पदार्थों को पृथक्-पृथक् अनुभव करता है, वह मन की चंचलता को पहले ही रोक लेता है।"[4]

---

१. तदेवं यदिह जगति शरीरविशेषसमवेतं किमपि सामर्थ्यमुपलभामहे तत्सकलमात्मन एवेति विनिश्चयः। आत्मप्रवृत्तिपरंपरोत्पादित्वाद्विग्रहग्रहणस्येति। —ज्ञानार्णव २१. १७

और भी कहा है—

२. मनोरोधे भवेद्रुद्धं विश्वमेव शरीरिभिः।
प्रायोऽसंवृतचित्तानां शेषरोधोऽप्यपार्थकः॥
कलंकविलयः साक्षान्मनः शुद्धयैव देहिनाम्।
तस्मिन्नपि समीभूते स्वार्थसिद्धिरुदाहृता॥ —ज्ञानार्णव २२. ६,७

३. एक एव मनोरोधः सर्वाभ्युदयसाधकः।
यमेवालम्ब्य संप्राप्ता योगिनस्तत्त्वनिश्चयम्॥ —ज्ञानार्णव २२. १२

४. पृथक्करोति यो धीरः स्वपरावेकतां गतौ।
स चापलं निगृह्णाति पूर्वमेवान्तरात्मनः॥ —ज्ञानार्णव २२. १३

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

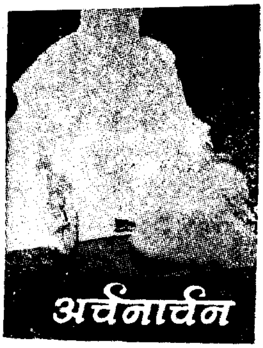

मोह और आसक्ति का मुख्य कारण पर को स्व मान लेना है। दोनों सर्वथा, सर्वदा सम्पूर्णतः भिन्न हैं, अभिन्न मान लेने से परिणामों की धारा विपरीतमुखी हो जाती है। फलतः मन चंचल हो जाता है। मन का चांचल्य मिटाने के लिए स्व और पर के भेदविज्ञान को प्रमुख माध्यम के रूप में लेना होगा, केवल कहने या बोलने के रूप में नहीं, भीतर अनुभव करने के रूप में।

तेईसवें सर्ग में राग, द्वेष आदि को जीतने का उपदेश दिया गया है। चौबीसवें सर्ग में समता का विश्लेषण है। समता की उच्च भूमिका का वर्णन करते हुए आचार्य ने लिखा है—

"एक व्यक्ति कल्पवृक्ष के फूलों से पूजा—सत्कार कर रहा है। दूसरा क्रुद्ध होकर मारने के लिए गले में सांप डाल रहा है। इन दोनों ही स्थितियों में जिसकी वृत्ति सदा समान रहती है, वास्तव में वह योगी है। यों जो योगी समता रूपी उद्यान में विहरण करता है, उसे परमज्ञान—कैवल्य प्राप्त होने का अवकाश बना रहता है।"[1]

पच्चीसवें सर्ग में आर्त्तध्यान का वर्णन है। छब्बीसवें सर्ग में रौद्रध्यान का वर्णन है। सत्ताईसवें सर्ग में पहले ऐसे स्थानों का वर्णन किया है, जो ध्यान में प्रतिकूल होते हैं, जिनमें म्लेच्छ जनों व पापी पुरुषों का स्थान, दुष्ट राजा द्वारा पालित स्थान, पाखण्डीजनों द्वारा घिरा हुआ स्थान, महामिथ्यात्व का स्थान आदि मुख्य हैं।[2]

आचार्य शुभचन्द्र ने ध्यान के लिए स्थान को बहुत महत्त्व दिया है। उन्होंने लिखा है—

"स्थान के दोष से साधनानुरागी जनों का मन तत्क्षण विकृत हो जाता है। मनोज्ञ एवं उत्तम स्थान पाकर वही स्वस्थता पा लेता है—स्थिर बन जाता है।[3]

अट्ठाईसवें सर्ग में आसन-जय, ध्यान का अधिकारी, ध्यान के लिए अनुकूल स्थान आदि का वर्णन है। ध्यानानुकूल स्थानों का उल्लेख करते हुए आचार्य ने लिखा है—

"समुद्र के तट पर, वन में, पर्वत के शिखर पर, नदी के किनारे, कमल-वन में, प्राकार में परकोटे में, शालवृक्षों के समूह में, नदियों के संगम पर, द्वीप में, प्रशस्त वृक्ष-कोटर में, पुराने उद्यान में, श्मशानभूमि में, जीवरहित गुफा में, सिद्धकूट तथा कृत्रिम, अकृत्रिम जिनालय में, जहाँ महा ऋद्धि धारक, अत्यन्त धैर्यशील योगी सिद्धि की वांछा करते हैं, ऐसे मनः प्रीतिकर, उत्तम, शंका और कोलाहल से रहित, सभी ऋतुओं में सुखप्रद, रमणीय, सब प्रकार के विघ्नों से रहित स्थान में, सूने घर में, सूने गांव में, भूगर्भ में—तहखाने में, केलों

---

१. एकः पूजां रचयति नरः पारिजातप्रसूनैः
क्रुद्धः कण्ठे क्षिपति भुजगं हन्तुकामस्ततोऽन्यः।
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी
साम्यारामं विशति परमज्ञानदत्तावकाशम्॥ —ज्ञानार्णव २४. २७

२. म्लेच्छाधमजनैर्जुष्टं दुष्टभूपालपालितम्।
पाषण्डिमण्डलाक्रान्तं महामिथ्यात्ववासितम्॥ —ज्ञानार्णव २७.२३

३. विकीर्यते मनः सद्यः स्थानदोषेण देहिनाम्।
तदेव स्वस्थतां धत्ते स्थानमासाद्य बन्धुरम्॥ —ज्ञानार्णव २७.२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के झुरमुट में, नगर के उपवन की वेदी के अन्त में, वेदी के मण्डप पर, चैत्यवृक्ष के नीचे, वर्षा, गर्मी, पाला, प्रचंड वायु आदि से वर्जित स्थान में योगी जन्म-मरण के दुःख को मिटाने का लक्ष्य लिए अनवरत जागरित रहता है—ध्यानस्थ होता है।"[1]

उनतीसवें सर्ग में प्राणायाम का वर्णन है। तीसवें में प्रत्याहार एवं धारणा का वर्णन है। इकत्तीसवें सर्ग में सवीर्य-ध्यान, ध्येयरूप परमात्मा तथा समरस भाव का वर्णन है। बत्तीसवें सर्ग में बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, भेदज्ञान, परमात्मप्राप्ति आदि का वर्णन हैं। तेतीसवें सर्ग में धर्मध्यान के आज्ञा-विचय भेद का, चौतीसवें सर्ग मे अपाय-विचय भेद का, पैंतीसवें सर्ग में विपाक-विचय भेद का, छत्तीसवें सर्ग में पिंडस्थ ध्यान का, पांच धारणाओं का, अड़तीसवें सर्ग में पदस्थ ध्यान का, उनतालीसवें सर्ग में रूपस्थ ध्यान का, चालीसवें सर्ग में रूपातीत ध्यान का विवेचन है। इकतालीसवें सर्ग में धर्म-ध्यान के फल आदि का वर्णन है। बयालीसवें सर्ग में शुक्लध्यान का स्वरूप, उसके भेद, मोक्ष तथा सिद्धात्मा की गरिमा का वर्णन है।

ज्ञानार्णव में वर्णित आसन, प्राणायाम तथा ध्यान का विशद विवेचन तत्तत् सम्बद्ध प्रकरणों में यथास्थान किया गया है।

---

१. सागरान्ते बनान्ते वा शैलशृगान्तरेऽथवा।
पुलिने पद्मखण्डान्ते प्राकारे शालसंकटे ॥
सरितां संगमे द्वीपे प्रशस्ते तरुकोटरे।
जीर्णोद्याने श्मशाने वा गुहागर्भे विजन्तुके ॥
सिद्धकूटे जिनागारे कृत्रिमेऽकृत्रिमेऽपि वा।
महर्द्धिकमहाधीरयोगिसंसिद्धवांछिते ॥
मनः प्रीतिप्रदेशस्ते शंकाकोलाहलच्युते।
सर्वर्त्तुसुखदे रम्ये सर्वोपद्रववर्जिते ॥
शून्यवेश्मन्यथ ग्रामे भूगर्भे कदलीगृहे।
पुरोपवनवेद्यन्ते मण्डपे चैत्यपादपे ॥
वर्षातपतुषारादिपवनासारवर्जिते।
स्थाने जागर्त्यविश्रान्तं यमी जन्मार्त्तिशान्तये ॥ —ज्ञानार्णव २८.२-७

□□

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org